06sudipto:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 141

महाभारत और सौंदर्यशास्त्र की चरम अनुभूति

यथार्थ का अतिक्रमण : प्राचीन और आधुनिक आख्यानों का अंतर

सुदीप्त कविराज

अनुवाद : नरेश गोस्वामी
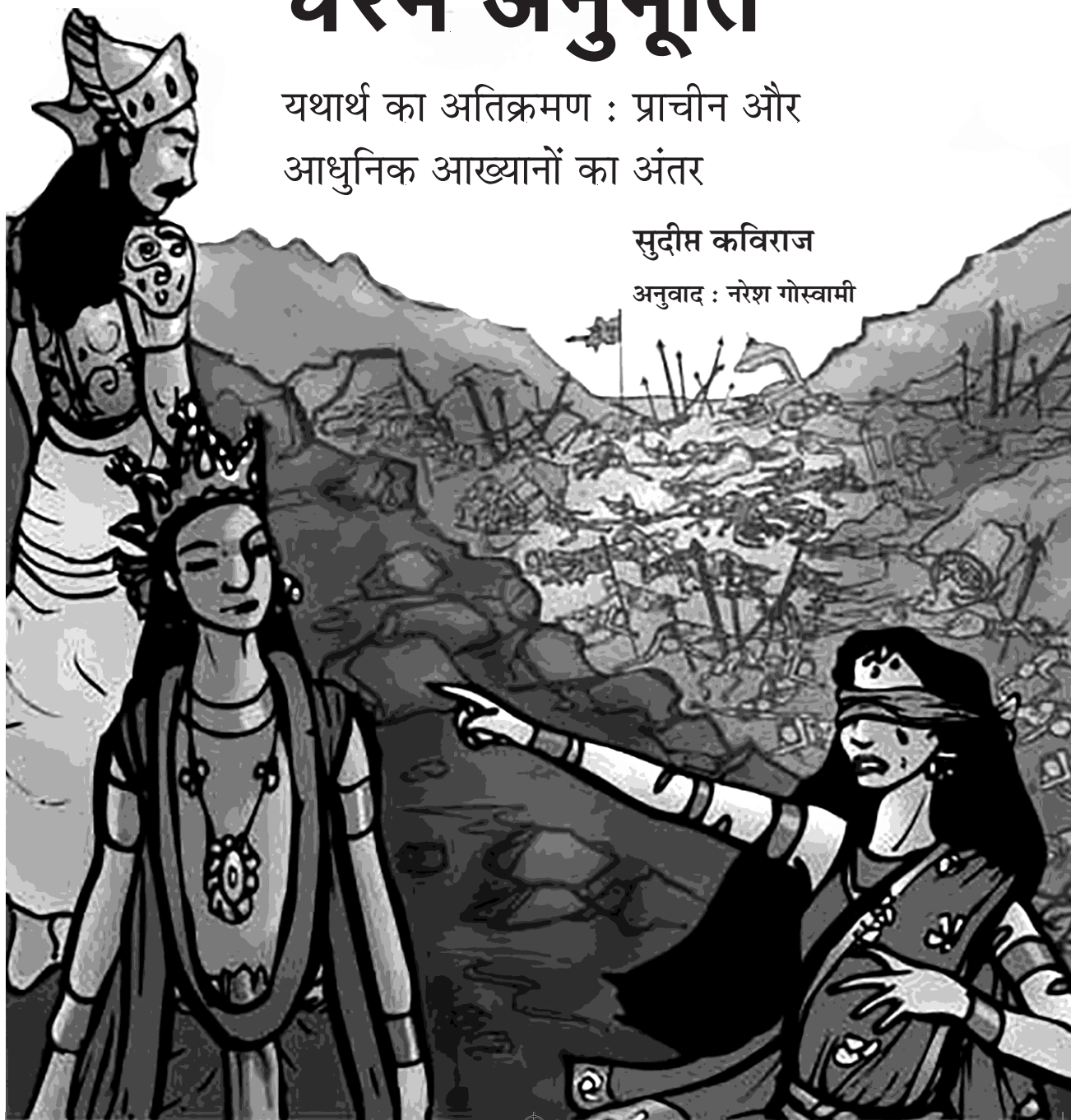
महाभारत आधुनिक उपन्यास नहीं है— इसकी रचना और पाठ का तर्क आधुनिक कथाओं से एकदम अलग है। आधुनिक गल्प अपने सबसे सशक्त रूप में दुनिया की एक ऐसी छवि प्रस्तुत करना चाहता है जो यथार्थ जितनी ही असल होती है। इसके ठीक विपरीत, *महाभारत* जैसी महाकाव्यात्मक कृतियाँ 'यथार्थ से आगे' का संधान करती हैं। हम इस पदबंध की तह में जा कर देखेंगे कि इसके और क्या-क्या आशय हो सकते हैं। अब मैं यह स्पष्ट करने की कोशिश करूँगा कि चरम या आत्यंतिक कहने के पीछे मेरा क्या आशय है। मुझे लगता है कि *महाभारत* मुख्यत: मनुष्य के दुख का संधान करता है : इस रचना के आख्यान की योजना में मृत्यु की युद्धजनित पीड़ा और स्त्रियों का दुख किसी भी तरह गौण विषय नहीं है। मुझे लगता है कि इस विस्तृत, जटिल और घुमावदार कथा के आख्यान में एक चरमवादी अंतर्दृष्टि निहित है। उसका रुझान आज के आधुनिक अतिवाद की तरफ़ नहीं है। वह युद्धजनित मृत्यु जैसे गहरे प्रश्न को तब तक सान पर चढ़ाती जाती है जब तक वह प्रश्न आख्यान की सामान्य सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर जाता; और विचार अपने अंतिम पड़ाव तक नहीं पहुँच जाता। ऐसे कई प्राक्-आधुनिक आख्यान हैं जिनमें युद्धजनित मृत्यु का उल्लेख आता है। परंतु *महाभारत* एक ऐसे युद्ध का वृत्तांत रचता है जिसकी अठारह अक्षौहिणी सेना में दस से भी कम सैनिक जीवित बच पाते हैं। *महाभारत* में यह बोध सन्निहित है कि कामनाओं के कारण स्त्रियाँ ख़तरे में पड़ सकती हैं, लेकिन वह उनके लिए एक ऐसी नियति की विचारणा करता है जो बलात्कार से भी ज़्यादा भयावह है। मनुष्य के एक साझे अनुभव को सौंदर्यशास्त्र की तकनीक अथवा प्रक्रिया से गुज़ार कर वह उसे तब तक एक चरम स्थिति की ओर धकेलता जाता है, जब तक हम तमाम हदबंदियों को पार करते हुए चिंतन के एक नितांत अपरिचित इलाक़े में नहीं पहुँच जाते। वह हमें विस्मय, भय और दया से भर देता है, लेकिन साथ ही हमें सोचने के लिए भी मजबूर करता है।

इसकी विस्तृत कथा-संरचना हमें बार-बार यह प्रश्न पूछने के लिए उद्धत करती है कि इस कथा का केंद्र किस प्रसंग या पात्र में निहित है। ज़ाहिर है कि इन दोनों प्रश्नों के आसपास अलग-अलग मतों का एक पूरा सिलसिला खड़ा हो चुका है। *महाभारत* के आख्यान और उसकी दार्शनिक बनावट के चिर-परिचित भाष्य से हट कर मैं यह कहना चाहता हूँ कि उसमें अर्जुन, युधिष्ठिर अथवा कृष्ण केंद्रीय पात्र नहीं हैं। अगर हम आख्यान को रचना के आंतरिक घटना-क्रम के सीमित अर्थ में देखें तो उसके केंद्रीय पात्र होने का गौरव निस्संदेह द्रौपदी के पक्ष में जाएगा। संदेहास्पद अथवा अस्पष्ट कुलनाम धारी नायकों के बरअक्स— जिन्हें विभिन्न देवताओं का वंशज होने के नाते अति-मानवीय गुणों से मण्डित किया जाता है, द्रौपदी मनुष्य के विरल गुणों की प्रतिमूर्ति के अलावा और कुछ दिखाई नहीं देती। और यह तब है जबकि उसे प्रतिशोध की अग्नि से उत्पन्न बताया गया है। वह आख्यान में आनेवाली विपत्तियों का मुक़ाबला अपनी निपट मानवीय वेध्यता और साहस के बल पर करती है।

इस कथा के केंद्र में कौन स्थित है— इस प्रश्न पर दूसरे तरीक़े से भी विचार किया जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कथा का केंद्रीय पात्र स्वयं वह कथा-वाचक ही है जो आख्यान के अलग-अलग मुक़ामों पर उसके भीतर-बाहर आवाजाही करता रहता है। मैं इस महाकाव्यात्मक आख्यान में निहित प्रज्ञा की इसलिए सराहना करता हूँ क्योंकि उसमें लेखकीयता की डोर किसी व्यक्ति के पास न होकर अदृश्य बनी रहती है। और इसके चलते यह कथा बहुत से अनाम-अज्ञात लेखकों के हाथों इस तरह आगे बढ़ती गयी है कि उसमें मानव-संसार को देखने-परखने की संगति और अंतश्चेतना में ज़रा भी विचलन नहीं आता। यही वजह है कि *महाभारत* को किसी एक रचनाकार की कृति मानने की बात कल्पनातीत लगती है। इस रचना के किसी एक देहधारी लेखक की खोज करने के बजाय ज़्यादा बेहतर जवाब यह पूछने में निहित है कि इस महाकाव्य की रचना किसने की? इसके जवाब में यह कहना कि इसके रचनाकार सर्व-द्रष्टा व्यास थे, उसी बात को ज़रा कम शब्दों में व्यक्त करने जैसा है। मैं यहाँ इस सूत्र को आगे बढ़ाना चाहता हूँ कि एक सुनिश्चित अर्थ में *महाभारत* का

कोई एक रचनाकार तो नहीं है, परंतु उसमें आख्यान की एक ऐसी ऊर्जस्वित सुसंगति मौजूद है जो कथ्य और कथन की शैली के सही चुनाव में कभी ग़लती नहीं करती।

एक ईरानी छात्रा ने मुझसे कक्षा में एक बात कही थी। वह यह सुनते-समझते बड़ी हुई है कि हिंदुओं की सभ्यता अत्यंत परिष्कृत और गूढ़ है, परंतु उसे कभी यह समझ नहीं आया ऐसी सभ्यता में पले-पढ़े लोग एक ऐसी अथाह विकृति से भरी कथा के दीवाने कैसे हो सकते हैं जिसमें लगातार ऐसी घटनाएँ घटती जाती हैं जिन्हें यथार्थ की दृष्टि से सम्भव और नैतिक रूप से स्वीकार्य नहीं माना जा सकता। इस छात्रा की पूर्व अध्यापिका को यह कथा इसलिए विकृत लगती थी क्योंकि उसमें केवल विरल संयोगों की बात की गयी थी। आज सोचता हूँ तो लगता है कि उस छात्रा की अध्यापिका बहुत संवेदनशील रही होंगी। ज़ाहिर है कि वह *महाभारत* के चमत्कार-वैचित्र्य से चकित हुई होगी। हाँ, आख्यान के नायक के संबंध में उसकी राय ग़लत और सही, दोनों श्रेणियों में आती थी। कथा के आख्यान में एक बुनियादी तत्त्व को लेकर उसका इशारा निस्संदेह सही था, लेकिन वह शायद यह बात नहीं समझ पा रही थी कि कथा के पाठक उसे किस तरह देखते हैं या फिर इसे पढ़ कर उन पर क्या प्रभाव पड़ता है। भारत में सौंदर्यशास्त्र के महानतम दार्शनिक अभिनवगुप्त का मानना था कि उदात्त साहित्य का उद्देश्य भी यही होता है : वह हमारे साथ घटित होता है। सच यह है कि कोई भी महान् कथा केवल आख्यान के अपरिभाषेय स्पेस में सम्पन्न नहीं होती, बल्कि उसका क्रीड़ा-स्थल हमारा आभ्यंतर होता है। यह अंतर्दृष्टि बहुत कुछ बाख़्तिन की उस उक्ति के नज़दीक बैठती है जो उन्होंने दास्तॉयव्स्की के उपन्यासों में आने वाले अबूझ पात्रों के बारे में कही थी।

मुझे यहाँ अपने ऊपर एक दूसरी तरह के ऋण— रवींद्रनाथ ठाकुर के उस अमिट और निरंतर बढ़ते ऋण की बात भी स्वीकार कर लेनी चाहिए जिसे हम अक्सर भूल जाते हैं। कभी मेरे मित्र चार्ली हैलिसे ने मुझसे रवींद्रनाथ और बौद्ध धर्म पर एक लेख लिखने का इसरार किया था। वह लेख लिखते हुए मैंने महसूस किया कि रवींद्रनाथ *महाभारत* के बजाय जातक-कथाओं को ज़्यादा महत्त्व देते प्रतीत होते हैं। *महाभारत* के इस सवाल पर मेरा ध्यान उक्त लेख के बाद ही गया था।

महाभारत एवं सौंदर्यानुभूति का चरम

बाख़्तिन को दास्तॉयव्स्की में एक अजीब बात नज़र आती थी। मुझे लगता है कि *महाभारत* के साथ भी एक अजूबी और अनूठी चीज़ जुड़ी है। अरस्तू के मुहावरे में कहें तो इस दुनिया में कुछ भी अजूबा, हैरतनाक़ या व्यग्र करने वाला नहीं है। ऐसी दुनिया में यह कथा हमें कहानी के आश्चर्यपूर्ण संयोगों और घुमावों में तल्लीन होने की गुंजाइश नहीं देती। *महाभारत* की कथा हमें एक गहरे स्तर पर व्यग्र करती है : हमें इस कथा में पैदा होने वाले अनपेक्षित घुमाव नहीं, बल्कि पात्रों और उनके संबंधों के ज़रिये कथा को गति देने वाली घटनाओं की आधारभूत परत ज़्यादा चकित करती है। दरअसल, इस रचना में व्यक्त व्यग्रता और पात्रों व कथा के आसंगों का समस्त वैचित्र्य उनके संबंधों में छिपा है। रचना में यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि उसका आख्यान कतिपय गुणों के वर्गीकरण तथा उन गुणों के विशुद्ध और अतिरेकी रूप का प्रतिनिधित्व कर रहे पात्रों पर टिका है। अतिरेक *महाभारत* का प्रधान और अविस्मरणीय गुण है। एक तरह से वह अतिरेक का काव्य है। युधिष्ठिर अथवा दुर्योधन, द्रौपदी या भीष्म आदि सत्यनिष्ठा, दुभार्वना/सत्ता की ललक, सुंदरता या कमनीयता तथा नैतिक संकल्प जैसे गुणों के अतिरेकी रूप की ओर इंगित करते हैं। उसमें इस चित्रण के सूक्ष्मतर रूप भी लक्षित किये जा सकते हैं। *महाभारत* क्षत्रिय नायकत्व की कथा है। लिहाज़ा, उसमें नायकत्व के प्रतिपादन या सच्चे योद्धा के गुणों का निरूपण हमें चकित नहीं करता। इस मामले में भीम और अर्जुन की भिन्नता बहुत कुछ उजागर कर देती है। अधिकांश वास्तविक योद्धा शारीरिक दमखम और व्यावहारिक कुशलता का प्रतिनिधित्व करते हैं : हम भी यह मान कर चलते हैं कि

कुरुक्षेत्र के युद्ध में सभी योद्धा इन दो गुणों का न्यूनाधिक मात्रा में प्रदर्शन करेंगे। लेकिन ग़ौर करिए कि भीम और अर्जुन एक-दूसरे से कितने अलग नज़र आते हैं : भीम शारीरिक शक्ति के पुंज हैं, वह अपनी अनगढ़ शक्ति से दुर्योधन का संहार करके कथा को उसके उपसंहार की ओर ले जाते हैं। दुर्योधन के वध में भीम निरी अनगढ़ शक्ति का प्रयोग इसलिए करते हैं क्योंकि गदा-संचालन के हुनर में वे दुर्योधन जितने पारंगत नहीं हैं। भीम के विपरीत, अर्जुन एक ऐसे योद्धा हैं जिसे कुशलता का शुद्धतम प्रतिरूप कहा जा सकता है। वे केवल धनुर्विद्या में ही अपराजेय नहीं हैं : जब भीष्म को प्यास लगी होती है तो तमाम धनुर्धर योद्धाओं में अर्जुन ही अकेला योद्धा हैं जो धरती की सतह भेद कर जल की धारा पैदा कर सकते हैं। *महाभारत* में ऐसे 'विशुद्ध' और अतिरेकी चरित्र एवं भयावह परिस्थितियाँ इसलिए आती हैं ताकि हम दुनिया के अस्तित्व पर इन लक्षणों के ज़रिये विचार कर सकें : हम देख सकते हैं कि इन पात्रों के विशुद्ध और एकल गुणधर्म का आख्यान दुनिया को किस तर्क की ओर ले जाएगा। अब मैं इस चरमपंथी कथा के कुछ प्रत्यक्ष और उदग्र उदाहरणों की तरफ़ ध्यान खींचना चाहूँगा। इस कथा की कल्पना का वितान इतना निर्बंध और सशक्त है कि अपने आख्यान के अमिट और आत्यंतिक विन्यास से वह हमारी नैतिकता के बोध को ढाँप लेना चाहता है।

कर्ण का जन्म या उसकी सामाजिक मृत्यु

कथा के प्रसंगों में कर्ण का जन्म हमारे इस नैतिक बोध को शुरू में ही निपट रूप से अस्थिर कर जाता है। महान् ऋषि की शारीरिक विद्रूपता— उसकी कुरूपता तथा उसकी देह से फूटती दुर्गंध एकबारगी उन दोनों राजकुमारियों के मन में गहरी फाँक पैदा कर देती है, जो क्षत्रज पुत्रों की कामना में उससे दैहिक संसर्ग करने आयी हैं। इस दोष का दण्ड उनके पुत्रों को मिलता है जो जन्म के समय ही कई विकृतियों का शिकार हो जाते हैं। धृतराष्ट्र संतानोत्पत्ति में सक्षम था, वह सौ पुत्रों का पिता भी बना; लेकिन वह दृष्टिहीन था। उसके बरअक्स पाण्डु का शरीर पीताभ था, और वह संतानोत्पति करने में अक्षम था। इस खण्ड में *महाभारत* एक विशुद्ध संरचनात्मक दंत कथा जैसा दिखाई पड़ता है, जिसमें दो पात्र अंतर्विरोधी अयोग्यताओं से ग्रस्त हैं— उन दोनों अपूर्ण व्यक्तित्वों में एक पूर्ण पुरुष नायक के गुणों को छाँट कर इस तरह बाँटा गया है कि आख्यान में अपेक्षित प्रभाव पैदा किया जा सके। यह सौंदर्यशास्त्र के चरमोत्कर्ष के विचार का पहला दृष्टांत है। विचित्रवीर्य के बाद कथा के सामने कोई सीधी रेखा नहीं रह जाती। इसके बाद वंशानुक्रम का सरल और बुनियादी मामला पेचीदा हो जाता है। उत्तराधिकार के नियम कहते हैं कि सिंहासन ज्येष्ठतम और शारीरिक दृष्टि से सर्वांग समर्थ पुरुष उत्तराधिकारी को मिलना चाहिए। लेकिन, धृतराष्ट्र को अयोग्य घोषित कर दिया जाता है, जबकि पाण्डु को, जिसे सामान्य स्थितियों में सिंहासन का सुपात्र नहीं माना जाता, गद्दी पर बैठा दिया जाता है। *महाभारत* के आधुनिक पाठ में पाण्डु निस्संतान मरता है। आख़िर, उत्तराधिकार का सुपात्र कौन था? इस सवाल का जवाब देना आसान नहीं है।

अगर अयोग्यता का आधार व्यक्ति की जन्मजात शारीरिक विकृति थी तो फिर वंशानुक्रम ज्येष्ठतम संतान के पक्ष में जाना चाहिए। ग़ौर करें कि दुर्योधन ठीक यही बात कह रहा था। लेकिन अगर अयोग्यता का आधार व्यक्ति के बजाय वंश को बनाया जाता है तो उत्तराधिकार का हक़दार पाण्डु होता है, और इस लिहाज़ से सिंहासन युधिष्ठिर को मिलता है। यह कथा हमें आख्यान के संयोगों और घुमावों— पराजय और पहचान जैसी युक्तियों से चकित करने में कोई दिलचस्पी नहीं रखती; वह तो हमें इस पहलू पर सोचने के लिए मजबूर करने पर तुली है कि मनुष्य के धीर-प्रशांत जीवन में कई बार ऐसे आश्चर्य भी घटते हैं कि ज्येष्ठाधिकार जैसी स्थापित परम्परा भी छिन्न-भिन्न हो जाती है।

इस तरह का एक गम्भीर प्रसंग हमें आख्यान की बिल्कुल शुरुआत में दिखाई पड़ जाता है। यह प्रसंग रवींद्रनाथ की सौंदर्य-दृष्टि ने बख़ूबी लक्षित कर लिया था। कर्ण का जन्म एक मृत्यु भी है। क्या
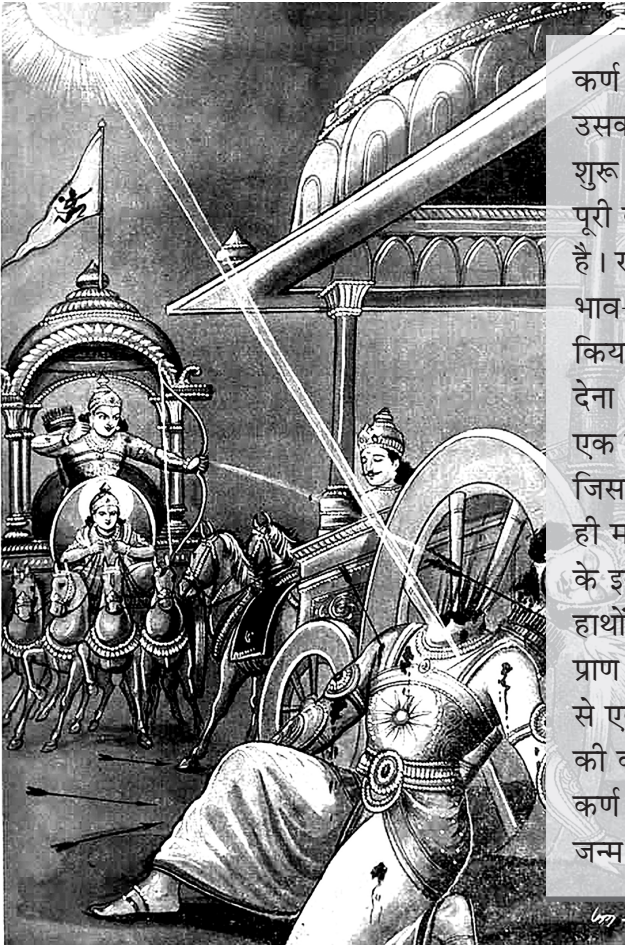
कर्ण का जन्म एक मृत्यु भी है। क्या उसकी मृत्यु उसके जन्म के साथ ही शुरू हो जाती है? एक तरह से यह पूरी कथा कर्ण की दीर्घ मृत्यु की कथा है। रवींद्रनाथ ने इसे माँ–बेटे के उस भाव–विह्वल संवाद के रूप में दर्ज किया है जिसमें माँ का पुत्र को जन्म देना अकारथ चला जाता है, और कर्ण एक ऐसे जीवन की शुरुआत करता है जिसमें वह सामाजिक रूप से पहले ही मर चुका है। कर्ण जीवन और मृत्यु के इस विचित्र उलझाव से अर्जुन के हाथों मुक्त होता है। अर्जुन जब उसके प्राण ले रहा होता है तो कर्ण की देह से एक प्रकाश–रेखा निकल कर सूर्य की कक्षा में विलीन हो जाती है। कर्ण को यह वरदान माँ से जन्म के समय मिला था।

उसकी मृत्यु उसके जन्म के साथ ही शुरू हो जाती है? एक तरह से यह पूरी कथा कर्ण की दीर्घ मृत्यु की कथा है। रवींद्रनाथ ने इसे माँ–बेटे के उस भाव–विह्वल संवाद के रूप में दर्ज किया है जिसमें माँ का पुत्र को जन्म देना अकारथ चला जाता है, और कर्ण एक ऐसे जीवन की शुरुआत करता है जिसमें वह सामाजिक रूप से पहले ही मर चुका है। कर्ण जीवन और मृत्यु के इस विचित्र उलझाव से अर्जुन के हाथों मुक्त होता है। अर्जुन जब उसके प्राण ले रहा होता है तो कर्ण की देह से एक प्रकाश–रेखा निकल कर सूर्य की कक्षा में विलीन हो जाती है। कर्ण को यह वरदान माँ से जन्म के समय मिला था। उल्लेखनीय है कि उपन्यास के संबंध में लुकाच जैसे सिद्धांतकारों ने जिन अंतर्दृष्टियों को केवल आधुनिक युरोप के औपन्यासिक आख्यान तक सीमित रखा है, उन्हें इस महाकाव्य पर भी लागू करके देखा जा सकता है। अपने पात्र को लेकर कोई भी महान् कथा शुरुआत में ही इस धारणा की ज़मीन तैयार कर देती है कि उसके साथ कोई दिक़्क़त है— उसे लगातार समाज की पथरीली रूढ़ियों और वर्जनाओं से लड़ते दिखाया जाता है। धीरे–धीरे आख्यान में उतरते हुए हम यह समझने लगते हैं कि दरअसल समस्या पात्र के भीतर नहीं, बल्कि सामाजिक रूढ़ियों में पैबस्त है। खोट नायक के व्यक्तित्व में नहीं, दुनिया की बनावट में है। यह बात कुंती और कर्ण के दुर्भाग्य को देखते ही समझ आ जाती है। कुंती एक मासूम युवती है जिस पर अचानक एक ऐसा दैवी वरदान लाद दिया गया है जिसके बारे

में वह कुछ नहीं जानती। और ठीक इस वजह से कि उसे यह वरदान अविश्वसनीय लगता है, वह इसकी सच्चाई का पता लगाने की ठान लेती है। लेकिन इस विकृत संसार में उसकी निष्पाप जिज्ञासा का परिणाम यह होता है कि वह विवाह से पहले ही माँ बन जाती है। आधुनिकता में कुछ ज़्यादा रचे-पगे पाठक कुंती की इस जिज्ञासा को उसकी उदीयमान यौनिकता के रूप में व्याख्यायित कर सकते हैं। उसे अपनी इस जिज्ञासा का क्रूर दण्ड मिलता है। अंततः उसे अपने शिशु का परित्याग करना पड़ता है। वह जीवन भर उसके लिए तरसती रहती है। *महाभारत* जिस संसार में अवस्थित है, वह प्राचीन संसार है, और इस संसार में व्यक्ति का भाग्य उसके जन्म और जाति पर निर्भर करता है। लेकिन, परिस्थितियों की तमाम प्रतिकूलताओं के बावजूद कर्ण सारथी नहीं, योद्धा बनकर दिखाता है। यहाँ, इस प्रसंग में महाकाव्य का इच्छित मौन आधुनिक पाठक को विस्मय में डाल देता है। कुंती और कर्ण का जीवन कुरुओं के आँगन में बीतता है। कर्ण इस यथार्थ से अनभिज्ञ है, लेकिन कुंती अपराध-बोध और वात्सल्य की आग में अहर्निश जलती रहती है। नदी के तट पर उनका मिलन एक ऐसी बेला में होता है जब युद्ध की दुंदुभि बज चुकी है। यह मिलन स्वयं एक त्रासदी है। रवींद्रनाथ केवल एक ही वाक्य में इस संबंध की त्रासदी का मर्म खोल कर रख देते हैं। कुंती कहती है :

सेई आमि आसियाछि छाड़ि सर्व लाज
तोरे दिते आपनार परिचय आज

(आज मैं अपनी लाज छोड़ कर तुमसे मिलने आयी हूँ, यह बताने आयी हूँ कि तुम्हारी और मेरी असली पहचान क्या है)। इस पदबंध— *तोर दिते अपनार परिचय आज*— की गहन व्यंजकता दोनों अर्थों को वहन करने में सक्षम है। मेरा अनुमान है कि रवींद्रनाथ अपने वाक्य में दोनों अर्थों की ओर संकेत करना चाहते थे। महाकाव्य का कर्ण कुंती के प्रति कोई भावनात्मक संपृक्ति नहीं दिखाता। वे कुंती से बहुत रूखे ढंग से कहते हैं कि वे उसके बाक़ी पुत्रों का संहार नहीं करेंगे। इसके धुर विपरीत, रवींद्रनाथ की पंक्तियों के कर्ण कुंती को देखकर भाव-विह्वल हो जाते हैं क्योंकि अपनी अँधेरी दुनिया में वे जीवन भर अपनी खोई हुई माँ की तलाश करते रहे हैं। और भाग्य की क्रूरता देखिए कि कुंती जब उसके सामने आती है तो वह उसके कट्टर शत्रुओं की माँ निकलती है। वे कुंती से नायकोचित आशीर्वाद माँगते हैं— भले ही उनका आत्म कलुषित हो चुका है। वे उससे यह आशीर्वाद माँगते हैं कि योद्धा के रूप में वह अपने पथ से विचलित न हो :

जयलोभे, यशोलोभे, राज्येलोभे अयि,
बीरेर सद्‌गति हते भ्रष्ट नाही हई।

(मुझे आशीर्वाद दो कि मैं विजय की लालसा, यश अथवा राज्य-प्राप्ति की इच्छा के कारण वीरता के पथ से विचलित न होऊँ।) हम अपनी लौकिकता कैसे भूल सकते हैं? और, यह हम इस उद्दाम रूप से आकर्षक पद के अस्पष्ट अर्थ में न कह कर ऐतिहासिक समय के कोने में स्थित अपने स्थिर, सीमित और उसी से मुक्त होते अस्तित्व के संदर्भ में कह रहे हैं। हम यह प्रश्न क्यों नहीं पूछ सकते कि कथा में द्रौपदी अथवा कुंती का पक्ष इसी तरह क्यों प्रस्तुत किया गया? इसकी साफ़ वजह व्यास के पाठ की शाश्वत अंतहीनता थी। मुझे लगता है कि व्यास को अपनी अमरता तथा अपनी कृति की कालातीतता के कारण ही इस सवाल का सामना करना पड़ता है और इसी कारण पीढ़ी-दर-पीढ़ी उठने वाले सवालों का जवाब देना पड़ता है। व्यास का यह पाठ समय की कसौटी पर खरा उतरा है। इसका मतलब यह है कि इस नाट्य-रचना के नित निरंतर बढ़ते श्रोताओं में आज हम भी शामिल हो चुके हैं। आख़िर कुंती का अपराध क्या था? ग़ौर करें कि कथा के निहायत पारम्परिक मानकों के हिसाब से भी कुंती पर वासना का आरोप नहीं लगाया जा सकता। अगर उसका कोई दोष था भी तो केवल यही कि वह उस अविश्वसनीय उपहार को पाकर चमत्कृत थी— उसे यह तक नहीं पता था कि इस उपहार का मतलब क्या है। ऐसे में, उसे किस बात का दोषी माना जा सकता है?

द्रौपदी का स्वयंवर : प्रेम, शुचिता और एकपत्नीत्व की निष्ठा का चरम परीक्षण

स्त्री-चरित्रों की कल्पना में द्रौपदी का व्यक्तित्व सबसे गूढ़ और अगम्य दिखाई देता है। सीता की भाँति वह भी *अयोनिजा* है। वह स्त्री-पुरुष के संसर्ग से पैदा नहीं हुई है, इसलिए वह अपने जीवन के प्रारम्भ से ही एक असामान्य प्रारब्ध की ओर बढ़ती नज़र आती है। कथा के आख्यान में कुंती की विचित्र सलाह भाइयों पर भारी पड़ती है। वे उसे ठुकरा नहीं सकते। सैद्धांतिक अर्थ में देखें तो इससे प्रेम और शुचिता के आदर्शों में एक गहरी दरार पड़ जाती है। दाम्पत्य संबंधों में ये दोनों आदर्श पृथक् स्थान रखते हैं। इनमें एक प्रेम की उपलब्धि से संबंध रखता है तो दूसरा वचनबद्धता से। *महाभारत* की आख्यान-संरचना में इन दोनों आदर्शों को एक ही स्त्री के ऊपर मढ़ दिया गया है। महाकाव्य से स्पष्ट ध्वनित होता है कि इस स्त्री ने अपने वचन का निर्वाह किया है : अपने सभी भाइयों में केवल अर्जुन ही ऐसे हैं जिन्होंने नियम का उल्लंघन किया है, और इसी के चलते उन्हें निर्वासन भोगना पड़ता है। इससे द्रौपदी का विषाद और बढ़ जाता है।

लेकिन, मुझे लगता है कि यह कथा की एक सौंदर्यमूलक युक्ति है जो द्रौपदी के मानस पर जमे इस भार की ओर इंगित करती है। स्मरणीय है कि कथा के अंत में स्वर्गारोहण के समय द्रौपदी रास्ते में गिर पड़ती है। सामान्यत: इस बात को पढ़ते हुए हमें कोई अचरज नहीं होता लेकिन, यह एक अत्यंत विस्मयकारी घटना है। उसके ऊपर कोई और तोहमत नहीं लगाई जाती। पाठक यह देख कर लगभग विद्रोह कर उठता है कि जिस व्यक्ति ने द्रौपदी को अपनी धनुर्विद्या के बल पर जीता था तथा जिस पर द्रौपदी स्वयं भी मोहित हुई थी, उस व्यक्ति से प्रेम करना पाप की श्रेणी में रखा जा सकता है! मेरा मानना है कि पाठक की सहानुभूति हरेक युग में हमेशा द्रौपदी के साथ ही रही होगी। नैतिक नियमों के प्रति यह महाकाव्य अपने उपसंहार तक एक प्रश्नवाचक भंगिमा बरक़रार रखता है। इस अर्थ में उसकी यह प्रश्नवाचकता और भी मर्मांतक हो जाती है कि उसमें प्रदत्त नियम अपने स्वतंत्र अस्तित्व के बजाय किसी अन्य नियम के आकस्मिक परिणाम की तरह प्रकट होता है। बुनियादी नियम यह है कि संतान अपने माता-पिता के आदेश का पालन करे। लेकिन, यहाँ माता-पिता का आदेश ही पूर्णत: आकस्मिक और उसकी अनभिज्ञता का परिणाम है। उसके आदेश का शाब्दिक अर्थ सभी चरित्रों को एक ऐसी स्थिति में डाल देता है जिसे वे अगर अस्वीकार्य नहीं मानते तो उसे लेकर असमंजस ज़रूर महसूस करते हैं। इस संबंध में दशरथ द्वारा कैकेयी को दिये जाने वाले उस वचन का दृष्टांत याद आता है जिसे राम ने सहर्ष स्वीकार कर लिया था। परंतु ध्यान से देखें तो घटना की यह समानता बहुत दूर तक नहीं जाती। दशरथ का कैकेयी को दिया गया वचन अस्थिर चित्त से उपजा था, वह सम्भवत: कैकेयी के प्रति दशरथ के अत्यधिक अनुराग तथा कैकेयी का अपने पुत्र के लिए कपटपूर्ण महत्त्वाकांक्षा का परिणाम था। इन्हें चारित्रिक दोष माना जा सकता था, लेकिन दिये गये वचन को अनुचित स्थिति का आकस्मिक परिणाम नहीं माना जा सकता। दशरथ की भाँति कुंती के वचन को चरित्र का दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह स्थिति की अनभिज्ञता तथा पुत्रों के कल्याण की इच्छा से उपजी सीख का परिणाम है। सच तो यह है कि अगर नियति अपना रास्ता न बदलती तो यह वचन उनके लिए श्रेयस्कर ही होना था। दरअसल, यह उस विचित्र और मस्तिष्क को चतुर्दिक घेर लेने वाली अभिभावकीय मानसिकता की ओर इंगित करती है। सामाजिक जीवन में वरिष्ठ होने के नाते माता-पिता एक नैतिक श्रेष्ठता के धारक होते हैं। यह नैतिक श्रेष्ठता ही संतानों को वस्तुओं का सही उपयोग करने की सलाह देती है। लेकिन, अपनी समस्त सदाशयता के बावजूद इस तरह का नियम बेहद विनाशकारी स्थिति उत्पन्न कर सकता है। ये दोनों घटनाएँ— पहले कुंती का वचन तथा अंत में द्रौपदी के निष्पाप होने के बावजूद उसका स्वर्ग से वंचित रह जाना— हमें केवल इस ख़ास घटना अथवा नियम विशेष के उचित-अनुचित पक्ष तक सीमित नहीं रहने देता। इसके बजाय वह हमें ऐसे नैतिक नियमों की प्रकृति पर सोचने के लिए प्रवृत्त करता है।

द्रौपदी सभा में

ब्रह्म ऋषि अखण्ड ब्रह्मचारी नहीं थे। उनके लिए स्त्री-संसार का एक अजूबा थी। उनकी अतुलनीय आख्यान-प्रतिभा द्रौपदी के व्यक्तित्व से इस क़दर मोहाविष्ट थी कि उन्होंने स्त्रीत्व की सारभूत कल्पना का आधार— एक स्त्री की सांसारिक यात्रा के तमाम अनुभवों की अभिव्यक्ति का प्रतीक द्रौपदी को बना दिया है। वह संसार में सबसे कमनीय लेकिन अगम्य है। और बाद में दुर्भाग्य के एक चकित कर देने वाले क्षण में (जिसे अरस्तू व्युत्क्रम कहते हैं) उसे एक ऐसा पुरुष मिलता है जिससे वह प्रेम कर सकती है, लेकिन यह एक ऐसा क्षण है जो उसे उन चार पुरुषों के साथ वैवाहिक संबंध में बाँध देता है जिनकी उसने कभी कामना ही नहीं की थी। औपचारिक रूप से वैवाहिक संबंध में बँध जाने के बाद— याद रहे कि यह कई पुरुषों से विवाहित होने की बात है, वह स्त्री पुरुषों की यौन-कामना का केंद्र नहीं रह जाती। उसके सौंदर्य पर समाज का नियंत्रण नहीं है, और न ही उस पर समाज कोई ऐसा पहरा बिठाता है कि वह अन्य संबंधों को छिन्न-भिन्न करने से संकोच करे। द्रौपदी के प्रसंग में व्यास के हाथ में ऐसा कोई नुस्खा नहीं है। वह एक दीपशिखा की तरह जलती रहती है, और जब कथा में वह अविश्वसनीय मोड़ आता है कि युधिष्ठिर उसे द्यूत-क्रीड़ा में दाँव पर लगा देते हैं तो वह फिर उसी रौद्र ज्वाला में परिणत हो जाती है। जुआ लगभग नरबलि की तरह होता है— अगर पासा ग़लत पड़ जाए तो मनुष्य विनिमय की वस्तु में बदल जाता है। अंततोगत्वा, यह द्रौपदी की अग्नि है जो वन को जलाकर राख कर देती है।

मैं क़दम-दर- क़दम खुलते उस विदग्ध दृश्य के आख्यान की बारीकियों में नहीं जाना चाहता। दु:शासन उसे अंत:पुर से खींच कर सभा में लाता है। पहले वह द्रौपदी को हाथों से घसीट कर लाता है और बाद में उसके केश पकड़ कर खींचता है। इस तरह वह पवित्रता के दो मानकों का उल्लंघन करता है— पहले अपने स्पर्श से द्रौपदी की देह को कलुषित करता है और दूसरे उसके बाल पकड़ कर एक स्त्री के रूप में उसका घनघोर अपमान करता है। वह इस अपमान का पूरे प्राणपण से विरोध करती है। उसका यह प्रतिकार इतना मुखर है कि सभा में बैठे भीष्म और गुरु द्रोण जैसी 'महान' पुरुष विभूतियों को शर्म के कारण अपना चेहरा छिपाना पड़ जाता है। उनके मुँह से केवल यह पंगु-सा वाक्य निकलता है : धर्मस्य तत्वम् निहितम गुहायाम्। मैं यहाँ इस बात पर ज़ोर देना चाहता हूँ कि यह प्रसंग भी अतिरेक की ओर झुका है। क्या यह उक्ति यह बताती प्रतीत होती है कि धर्म की सर्वोच्चता में विश्वास व्यक्त करने वाले इस मनुष्य की स्थिति वस्तुत: उस घोड़े जैसी होती है जिसकी आँखों पर पट्टी बँधी होती है और जो धर्म का निर्वाह केवल रणभूमि की साफ़ और निर्विकल्प परिस्थिति में ही कर सकता है? लेकिन, क्या सामाजिक जीवन की बीहड़ रणभूमि या सचमुच की पेचीदा स्थितियों में वे धर्म को त्याग कर उसकी अथवा उसके सिद्धांतों की रक्षा कर पाते हैं? जैसा कि आगे स्पष्ट होगा, इसका संबंध प्रस्तुत प्रसंग के चरमोत्कर्ष से है। द्रौपदी अपने साथ किये जाने वाले दुर्व्यवहार के विरुद्ध बेहद सुचिंतित तर्क देते हुए कहती है कि धर्म की सर्वसामान्य संहिता के नियमों के अंतर्गत भी उसके साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया जा सकता। उसकी बात पर कोई ध्यान नहीं देता क्योंकि मनुष्य अपने सामने जायज़ तर्क के होते हुए भी उसका इस्तेमाल नहीं करना चाहता। अगर उसे तर्क के सिद्धांत अपनी इच्छा और क्रूरता के विरुद्ध जाते दिखते हैं तो वह उन्हें बरज देता है। यह प्रत्येक अर्थ में इस महाकाव्य का चरम क्षण है। उल्लेखनीय है कि यह क्षण इस रचना के अंत में नहीं बल्कि धुर मध्य में आता है, और इसके बाद आगे की हर घटना इस सांघातिक क्षण से तय होने लगती है। इन पंक्तियों में व्यास हमें क्या बताना चाहते हैं? दु:शासन द्रौपदी को भरी सभा में खींच कर लाता है। जब वह उसका चीरहरण कर रहा होता है तो सभा में बैठे तमाम पुरुष इस दृश्य के साक्षी होते हैं। संसार की अन्यतम सुंदरी को पुरुषों की आँखों के सामने निर्वस्त्र करने की यह कल्पना रोज़मर्रा की सांसारिक चेतना को साँसत में डालने के लिए काफ़ी है। लेकिन, यहाँ व्यास अपने आख्यान में एक

विलक्षण करुणा की युक्ति खोज निकालते हैं। द्रौपदी को इस अपमान से भगवान नहीं, बल्कि कवि की सम्प्रभुता बचाती है। द्रौपदी की देह का एकल वस्त्र अलग-अलग रंगों की साड़ियों में अंतरित होकर अंतहीन बन जाता है। इसके आगे दु:शासन की शक्ति और सभा में बैठे लम्पट पुरुषों की इच्छा धराशायी हो जाती है। द्रौपदी इस घोर यातना से उबर आती है। इस संदर्भ में बाख़्तिन याद आते हैं कि विराट चरित्र परीक्षा की घड़ी से अपराजेय, अप्रतिहत और अभय होकर निकलते हैं। सवाल है कि द्रौपदी के प्रसंग में दैवी हस्तक्षेप का संकेत हमें क्या बताना चाहता है? मेरा मानना है कि इस प्रकार के प्रत्येक प्रसंग में एक गहरा आशय छिपा होता है। यह आशय इतना गहन होता है कि आमतौर पर ऐसे विचारों और प्रश्नों का सामना करने में हम अचकचा जाते हैं। द्रौपदी एक विराट प्रश्न है— मेरे ख़याल में शिष्टता की प्रकृति पर केंद्रित यह भारतीय चित्त का सबसे गुरुतर प्रश्न है। *महाभारत* के आख्यान की सर्वोपरि विशिष्टता यह है कि उसमें एक ऐसी घटना गूँथी गयी है जो बलात्कार से भी ज़्यादा हिंसक है। उसमें एक ऐसी स्थिति का संधान किया गया है जो स्त्री की देह को छिप कर देखने की अश्लील मानसिकता से भी ज़्यादा घटिया है। किसी स्त्री की देह को छिप कर देखना तो फिर भी एक ऐसी हरकत है जो उसकी निजता का गोपनीय ढंग से अतिक्रमण करती है, *महाभारत* में तो इस हरकत को भयावह स्तर पर और सबकी आँखों के सामने अंजाम दिया जाता है। स्त्री की देह के अपमान का यह एक ऐसा दृश्य है जिसमें सारे पुरुष गुनहगार हैं। यह पुरुषत्व की एक ऐसी विचित्र, ध्वंसकारी और सार्वभौम भर्त्सना है जिससे विदुर केवल इसलिए बच पाता है क्योंकि वह सभा का धिक्कार करके बाहर चला जाता है। क्या यह प्रसंग इस तरह की परिस्थिति उत्पन्न होने की दशा में सारे पुरुषों से यह आशा करता है कि वे चरित्र-परीक्षा के इस क्षण में भीष्म तथा द्रोण जैसी औसत 'महान विभूतियों' की तरह व्यवहार नहीं करेंगे?

लेकिन, यहाँ सबसे विराट प्रश्न यह है कि इस प्रसंग में कृष्ण का हस्तक्षेप क्या अर्थ रखता है? क्या इसका आशय यह है कि जैसे ईश्वर का बोध अनिर्वचनीय होता है, उसी तरह अपरूपता के कतिपय स्तर भी उतने ही शब्दातीत होते हैं? साहित्य में कई दफ़ा ऐसी स्थिति की रचना की जा सकती है जिसमें हमारी भाषा के नैतिक मूल्यांकन की क्षमता मौन हो जाती है। ऐसे प्रसंगों में एक या दूसरी तरह की सीमाएँ टूटती नज़र आती हैं। कवि व्यास इन प्रसंगों को साहित्य में आयत करके मानवीय भाषा और हमारी नैतिक कल्पना की सीमाओं का अवगाहन करना चाहते हैं। अपने चरमोत्कर्ष के क्षण में *महाभारत* का प्रत्येक प्रसंग हमारी चिंतन-क्षमता का एक अतिरेकी रूप प्रस्तुत करता है। यह सौंदर्यशास्त्र का एक ऐसा चरम रूप है जो इस आख्यान के ज़रिये हमारी चेतना को झटका देकर उसे नयी दिशा में सोचने के लिए मजबूर करता है। अभिनवगुप्त ने कहा है कि साहित्य का ध्येय चमत्कार पैदा करना होता है। चमत्कार का यह भाव हमें मंत्रमुग्ध कर देता है, लेकिन उसका वास्तविक उद्देश्य हमारी चेतना को सक्रिय करना होता है। इस दृष्टि से देखें तो *महाभारत* इसी उद्देश्य की पूर्ति करता प्रतीत होता है। लेकिन, व्यास अभिनव से भी आगे जाते हैं : कवि की पहुँच सौंदर्य के दार्शनिक से ज़्यादा व्यापक है। अभिनव का मानना है कि कला हम में पुरुषार्थों के प्रति आस्तिक भाव पैदा करती है। यहाँ आस्तिक शब्द से मेरा आशय उस चिंतन से है जो इन मूल्यों को पूर्व-प्रदत्त मान कर चलता है। *महाभारत* हमें चिंतन की इस सीमा से भी परे ले जाता है : वह हमसे नीतिशास्त्र की पारिस्थितिक सम्भावना के बारे में सवाल पूछने लगता है। इसे धर्म का महानतम ग्रंथ ठीक ही कहा जाता है क्योंकि वह हमसे धर्म की परिभाषा पूछते हुए यह प्रश्न करता है : क्या धर्म का सचमुच कोई अस्तित्व होता है? हमें उसमें विश्वास क्यों करना चाहिए? धर्म के अस्तित्व का क्या अर्थ होता है? और यह स्पष्ट है कि इस आख्यान के अलग-अलग पात्रों में युधिष्ठिर या कृष्ण या विदुर अथवा गांधारी नहीं बल्कि द्रौपदी का दृष्टिकोण ही ऐसे प्रश्न पूछने के लिए प्रेरित करता है। ग़ौर से देखें तो द्रौपदी ही इस आख्यान का मर्म-स्थल है— इस आख्यान को उसी की अग्नि प्रज्वलित रखती है।

(इस महाकाव्य में गीता की रचना से पहले शब्दों और विचारों का एक मोहक प्रसंग देखा जा सकता है जिसमें धृतराष्ट्र पाण्डवों की शक्ति को पर्याप्त बताते हुए कौरवों की सेना को अपर्याप्त कहते हैं। अगर इसे अपर्याप्त के समक्ष रख कर देखा जाए तो एक विशेषण के रूप में पर्याप्त का अर्थ सीमित और आवश्यकता के अनुरूप माना जा सकता है, क्योंकि तब अपर्याप्त का अर्थ असीमित और आवश्यकता से अधिक हो जाता है। अगर इस दृष्टि से देखें कि युद्ध के आख्यान का अंत किस बिंदु पर जाकर होता है तो इन शब्दों के अर्थ की विडम्बना छुपी नहीं रह जाती। लेकिन संस्कृत में अपर्याप्त का अर्थ पर्याप्त का उलटा भी हो सकता है। दूसरे शब्दों में, उसे किसी दायित्व की अपर्याप्त तैयारी के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। लेकिन मुझे लगता है कि शब्द-क्रीड़ा के प्रकट अर्थ के पीछे एक अन्य अर्थ की परत भी उपस्थित है। वह अच्छाई के संकट— धर्मसंकट की एक ज़्यादा गहरी और स्याह अनुभूति की ओर इशारा करती प्रतीत होती है। व्यक्ति का निजी धर्मसंकट आमतौर पर एक नैतिक ऊहापोह की श्रेणी में आता है। इसके उलट, जब कोई समाज धर्म के संकट में घिर जाता है तो उसके दो परिणाम होते हैं। सत्ता के साथ जब अन्याय भागीदार हो जाता है तो उसका वर्चस्व और भी दुर्धर्ष हो जाता है। तब उसकी ताक़त अच्छाई के साथ खड़ी शक्तियों पर भारी पड़ने लगती है। ऐसे में, सच्चाई के पक्ष में लड़ने की इच्छा रखने वालों को यह स्वीकार करना होता है कि वे अन्याय की शक्तियों के सामने अकेले पड़ जाएँगे, और उन्हें अपने से ज़्यादा विशाल और शक्तिशाली पक्ष को पराजित करना होगा। विश्वास की अंतिम परीक्षा यही होती है। क्या लोगबाग शक्तिहीनता तथा आसन्न पराजय की स्थिति में भी न्याय के पक्ष में खड़े हो सकते हैं? यह महाकाव्य इस सूत्र में विश्वास करता है कि न्याय की लघुतर सेनाओं को अच्छाई से भले ही कोई ठोस रसद न मिलती हो, परंतु उसमें एक शब्दातीत शक्ति होती है जो संघर्ष की तमाम भयावहता के बावजूद इस उम्मीद को ज़िंदा रखती है कि अंततः सत्य ही विजयी होगा। इस अर्थ में कुरुक्षेत्र का युद्ध गहरे संकट-काल के समय अच्छाई के लिए लड़े जा रहे युद्धों के एक रूपक की तरह उभरता है। अच्छाई की शक्तियाँ हाशिये पर ठेल दी गयी हैं, लेकिन उन्हें अपने भीतर यह विश्वास जागृत करना होगा कि जब भी वास्तविक युद्ध लड़ा जाएगा तो विजय उन्हीं की होगी। पर्याप्त और अपर्याप्त की इस शब्द-क्रीड़ा को, जिसमें नैतिक परीक्षण के समय असीमित भी आवश्यक से कम पड़ जाता है, अन्याय की शक्ति पर गूढ़ कटाक्ष करने वाले इस पद के बिना नहीं समझा जा सकता :

अधर्मेणैधते तावत् ततो भ्रदाणि पश्यति
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति

(अनीति के मार्ग पर चलने वाला एक समय तक समृद्धि का जीवन व्यतीत कर सकता है, वह अपने शत्रुओं पर भारी पड़ सकता है, लेकिन अंततः वह समूल नष्ट हो जाता है।)

गीता का विमर्श

इसमें कोई संदेह नहीं है कि *गीता* इस महाकाव्य की सबसे जटिल गुत्थी है। उल्लेखनीय है कि आख्यान में अंतिम युद्ध की भूमिका द्यूत-क्रीड़ा के समय से ही तैयार होने लगती है। अचानक होता यह है कि युद्ध के शंखनाद से पहले अपने समय का सबसे प्रसिद्ध योद्धा युद्ध के प्रति वितृष्णा से भर उठता है। विचित्र बात यह है कि उसके मन में युद्ध का भय या अनिश्चितता नहीं है, बल्कि उसका हृदय करुणा से भर गया है। ग़ौरतलब है कि सामान्य सोच-व्यवहार में करुणा योद्धा की मानसिकता से मेल नहीं खाती। लेकिन *महाभारत* के चरमवादी वितान में यह बात बहुत आश्चर्य पैदा नहीं करती। दूसरे, अगर कोई योद्धा रोज़मर्रा के सामाजिक व्यवहार में दया भाव दिखाता है तो इसे उसकी अच्छाई के रूप में देखा जाता है, परंतु एक ऐसी घड़ी में जब युद्ध शुरू होने वाला हो तो करुणा का प्रदर्शन गर्हित माना जाता है। बांग्ला के समर्थ आलोचक बुद्धदेव बोस का मानना है कि अगर युद्ध से पहले

भीम उसे लड़ाई में मारे जाने वाले योद्धा की तरह नहीं मारते। इसके बजाय वह अपने संकल्प के अनुसार दु:शासन की छाती से उसका हृदय निकाल कर रक्तपान करते हैं। भीम को ऐसा करते देख आसपास के योद्धा जुगुप्सा से भर उठते हैं। कृष्ण और अर्जुन उसे यह हरकत करने से रोकते हैं, लेकिन यह उसका संकल्प था। कौरव–सेना के योद्धा रणभूमि से चीखते–चिल्लाते भागने लगते हैं कि उनके बीच कोई राक्षस घुस आया है। अपने तात्कालिक परिवेश से विरक्त तथा घृणा के उन्माद की काल–कोठरी में बंद भीम महाकाल के नृत्य में डूब जाते हैं। वे कहते हैं कि ऐसा पेय उन्होंने आज तक नहीं चखा। वे इसे माँ के दूध से भी ज़्यादा स्वादिष्ट बताते हैं। इस दृश्य का वर्णन पढ़ कर पाठक सन्न रह जाता

इस तरह का संशय युधिष्ठिर दिखलाता तो इसे फिर भी स्वीकार किया जा सकता था। लेकिन, युधिष्ठिर को इन बातों पर पश्चात्ताप तब होता है (शांति पर्व एवं स्त्री पर्व में), जब युद्ध औपचारिक रूप से शुरू हो चुका होता है। आख्यान की अग्र–गति में *गीता* से एक अन्य गहरे आशय की भी सूचना मिलती है। हालाँकि *महाभारत* में इस आख्यान को दर्ज किया गया है किंतु उसमें इस प्रसंग की विशेष व्याख्या नहीं मिलती। इस प्रसंग और उसके गूढ़ार्थों का विधिवत् संधान वैष्णव धर्म के परवर्ती ग्रंथों में ज़्यादा दिखाई देता है। इस संदर्भ में भक्त कवि सूरदास का एक पद उल्लेखनीय है जिसमें कृष्ण की इस बात के लिए प्रशंसा की गयी है कि वे अपने भक्तों के लिए सदैव उपलब्ध रहते हैं। सूरदास यह भी कहते हैं कि अपने भक्तों के जीवन का स्पर्श करने के लिए कृष्ण संसार के निकृष्टतम स्थान में भी अवतरित हो सकते हैं। रवींद्रनाथ ईश्वर के अवतरण को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते हैं— 'ताइ तोमार आनंद आमार पर/ तुमि ताइ एसेछ नीचे।' जैसा कि भीष्म पर्व में कृष्ण द्वारा भीष्म को चुनौती देने वाले कुछ लघु प्रकरणों से पता चलता है, जो व्यक्ति पूरे युद्ध को अपने दम पर जीत सकता था वह युद्ध में अपने लिए सारथी जैसा निकृष्टतम का कार्य चुन लेता है। दिलचस्प यह है कि एक बार जब कृष्ण सारथी बनने का निर्णय कर लेते हैं तो रथ का संचालन करना स्वयं एक कुलीन कार्य बन जाता है, और शल्य कर्ण का सारथी बनने में गर्व का अनुभव करता है।

विचित्र यह है कि संशय अर्जुन जैसे जन्मजात योद्धा के मन में पैदा होता है। और यदि हम इस कथा–योजना में निहित चरम वितान से ध्यान न हटाएँ तो यह युक्ति पूरी तरह उचित लगती है। चूँकि अर्जुन महानतम योद्धा है इसलिए यह निश्चित है कि युद्ध में शत्रुओं का सर्वाधिक संहार भी वही कर

सकता है। और अर्जुन दूसरों के प्रति इतना संवेदनशील है ही इसीलिए क्योंकि युद्ध में विजय दिलाने का भार उसी के कंधों पर है। इसलिए, उसका यह पूछना अनुचित नहीं है कि युद्ध करना कितना औचित्यपूर्ण होगा! अर्जुन का संशय पूर्णत: स्पष्ट और भविष्य के परिणाम से संचालित है। उसकी ऊहापोह का तात्कालिक कारण तो यह है कि मृत्यु-भूमि के दूसरी ओर खड़े योद्धा उसी के रक्त-संबंधी और मित्र हैं। आख्यान की यह समस्या तुरंत समझ में आ जाती है क्योंकि मृत्यु की विभीषिका, ध्वंस तथा नैतिक त्रासदी से परिवार का कोई भी सदस्य और संबंधी नहीं बच पाएगा। लेकिन, मुझे लगता है कि यहाँ एक और गहरा तथा गूढ़तर आशय यह छिपा है कि समूची मनुष्यता ही परिवार के सदृश होती है, इसलिए किसी भी युद्ध में भाग ले रहे योद्धाओं को अर्जुन के मन में घुमड़ते संशय का सामना करना पड़ता है। अगर पूरी वसुधा अपने कुटुम्बियों से भरी है तो फिर *गीता* का विराट प्रश्न केवल इस युद्ध तक सीमित न रह कर सभी युद्धों से सरोकार रखता है।

लेकिन, अगर हम *गीता* को एक स्वतंत्र धार्मिक ग्रंथ न मान कर इस गझिन आख्यान के संदर्भ में देखें (वैसे उसके ये दोनों पाठ अपनी-अपनी जगह अर्थपूर्ण हैं) तो यह स्पष्ट है कि इस प्रकरण से *महाभारत* का एक अन्य विस्मयकारी तत्त्व— एक प्रकार की भावना रहित व्यावहारिकता या एक ख़ास तरह का यथार्थ भी प्रकट होता है। *महाभारत* में यह बात बार-बार कही गयी है कि मनुष्यों को अच्छाई का संदर्भच्युत परामर्श देना व्यर्थ होता है। उसके अनुसार अच्छाई एक ऐसी सीख है जिसका निर्वाह जीवन के तात्कालिक दबावों और विषम परिस्थितियों में ही किया जा सकता है। कहना न होगा कि आक्रमण के लिए सन्नद्ध दो सेनाओं के बीच खड़े अर्जुन को अहिंसा का पाठ पढ़ाना व्यर्थ होगा। इससे अहिंसा का प्रवचन देने वाले व्यक्ति को तो संतोष मिल सकता है परंतु इसका कोई इच्छित प्रभाव नहीं होता। इसलिए *गीता* अहिंसा के प्रश्न को दो स्तरों पर सम्बोधित करती है। वह अहिंसा के सार्वभौम नैतिक सिद्धांत का पालन करने पर ज़ोर देती है— व्यक्ति का जीवन ऐसा होना चाहिए कि उससे ईश्वर द्वारा रचित अन्य प्राणियों को चोट न पहुँचती हो। कुछ भाष्यकारों का कहना है कि अहिंसा की यह धारा महाकाव्य में आद्योपांत बहती है। उनका कहना है कि अगर *महाभारत* में किसी एक सर्वाधिक उल्लेखनीय तत्त्व की खोज की जाए तो वह खोज अहिंसा पर ख़त्म होगी। लेकिन, यथार्थ का नियम आख्यान के रचनाकार को इस बात के लिए विवश कर देता है कि वह इस सिद्धांत के प्रति अपनी असंदिग्ध का प्रदर्शन रणभूमि के माहौल में करके दिखाए। इस प्रकार, गीता अहिंसा का एक-दूसरे स्तर पर— उसके व्यावहारिक संदर्भ में भी प्रतिपादन करती है। और वह एक ऐसा विशिष्ट क्षण है जिसमें सामान्य सिद्धांत की बड़ी सफ़ाई के साथ अवहेलना कर दी जाती है ताकि अर्जुन को आगे का रास्ता दिखाई दे सके। इस क्षण में यह स्पष्ट है अहिंसा की शाब्दिक और समझौताविहीन घोषणा से कोई हल नहीं निकलेगा। उससे केवल इतना भर सिद्ध हो सकेगा कि मानव-जीवन में कई बार ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जिनमें सिद्धांतों का पालन नहीं किया जा सकता। ऐसे में सिद्धांतों को एकतरफ़ रख दिया जाता है। और इससे मानव-जीवन की यह विचित्र और प्रतिकूल छवि पैदा होती है कि सिद्धांतों का पालन केवल सामान्य परिस्थितियों में ही किया जा सकता है। *महाभारत* नैतिक नियमों की इस सीमित व्याख्या को स्वीकार नहीं करता। वह इस बात पर ज़ोर देता है कि जहाँ तक सम्भव हो सिद्धांतों का पालन किया जाना चाहिए। इसलिए *गीता* में अर्जुन को जो उपदेश दिया गया है उसमें अहिंसा के शाब्दिक रूप की बात नहीं है— वह उससे अ-क्रूरता (आनृशंस्य/अनृशंसता) बरतने का आग्रह करता है। इस बिंदु को लेकर यह आख्यान एकदम अडिग है। वह युद्ध के वृत्तांत, रक्तपात, मृत्यु की अंतहीन शृंखला आदि का उल्लेख करते हुए नृशंस कर्म करने और इससे विरत रहने वाले योद्धाओं का वर्गीकरण भी करता है। युद्ध में कौन कितना निर्दोष है, यह कहना मुश्किल है— अर्जुन कर्ण की हत्या तब करता है जब उसका रथ कीचड़ में धँस जाता है। लेकिन, कर्ण भी अपने औदात्य और वीरता पर टिका नहीं रहता। वह चक्रव्यूह में अभिमन्यु तथा द्रोण की अनैतिक घेरेबंदी और हत्या का दोषी है। आख्यान में उनकी

मृत्यु के साथ ही उनके नैतिक परिष्कार की सम्भावना तिरोहित हो जाती है। *गीता* में अहिंसा का उपदेश (जिसे गाँधी ने बख़ूबी समझा था) लड़ाई के एक ऐसे आदर्श की स्थापना करता है जिसमें योद्धा क्रूरता का प्रयोग नहीं करता। कई दफ़ा यह आदर्श उसे ऐसे मुक़ाम पर ला खड़ा करता था जहाँ उसे अपने ही जीवन का बलिदान करना पड़ जाता था। अगर हम पाठ का सही अर्थ ग्रहण करने में सक्षम हैं तो *गीता* का तर्क यह है कि यदि अहिंसा का कोई सामान्य सार्वभौम सिद्धांत हो सकता है तो उसकी सार्वभौमिकता की जाँच ठीक ऐसे ही क्षण में की जा सकती है।

यहाँ आकर मुझे लगता है कि गाँधी और *गीता* के बीच एक गहरा संबंध है। और वह *गीता* के पाठ के इस पहलू से ख़ास तौर पर जुड़ा हुआ है। यह एक आम विश्वास है जिसे बड़ी आसानी से वैध ठहराया जा सकता है कि नीतिपरक व्यवहार अनिवार्य रूप से विघ्नकारी होता है क्योंकि मानव-जीवन में ऐसे पल और प्रसंग आते हैं जिनमें मनुष्य के लिए नैतिक नियमों पर चलना असम्भव हो जाता है। ऐसे में, मनुष्य के व्यवहार पर नज़र रखने वाले न्यायाधीश भी सही-ग़लत का फ़ैसला नहीं कर पाते। इसका एक उदाहरण युद्ध है और दूसरा राजनीति क्योंकि राजनीति भी एक प्रकार का या सच कहें तो युद्ध का ही रूप है। ऐसा प्रतीत होता है कि गाँधी और *गीता* के बीच यह गहरा और गोपन संबंध इस तथ्य से प्रकट होता है कि गाँधी राजनीति के क्षेत्र में इसी चरमवादी आदर्श का व्यवहार करना चाहते थे। दूसरे शब्दों में कहें तो गाँधी अपने चिंतन की मंजिलों से गुज़रते हुए राजनीति के एक ऐसे ही आत्यंतिक प्रतिरूप पर पहुँचे थे। राजनीति के संबंध में गाँधी की संकल्पना— कम से कम दो मायनों में, इसी चरम आदर्श की ओर जाती है। पहली बात तो यह कि वे नैतिकता के धार्मिक आशयों से रहित आधुनिक सेकुलर राजनीति तथा नैतिकता के बीच मैकियावली द्वारा प्रस्तावित पार्थक्य को सिरे से नकार देते हैं।

गाँधी डंके की चोट पर कहते हैं कि उनकी वैकल्पिक राजनीति की संकल्पना नैतिकता से जुड़ी है। और, वे अपने इस विरोधपूर्ण मत को पूरी स्पष्टता से बयान करते हुए कहते हैं कि उनकी नज़र में राजनीति हमेशा ही धर्म से संपृक्त रही है, क्योंकि एक धार्मिक व्यक्ति के लिए हर उदात्त विचार उसके धार्मिक विश्वासों से प्रतिश्रुत होता है। गाँधी के राजनीतिक चिंतन का ख़ास पारिभाषिक तत्त्व यह है कि वह नैतिक नियमों, विशेषकर अहिंसा के प्रति अपने सरोकार की शाब्दिक व्याख्या पर ज़ोर देता है। उनकी इस व्याख्या का सबूत यह है कि उन्होंने लाखों लोगों की कोशिशों और मेहनत पर खड़े उस आंदोलन को सिर्फ़ इसलिए वापस लेने का निर्णय कर डाला था कि आंदोलन में शामिल एक छोटे से समूह ने हिंसा का रास्ता अख़्तियार कर लिया था। लेकिन गाँधी की समझ अडिग और चरमवादी है। उनके लिए नैतिक सिद्धांत के प्रति सरोकार रखने का मतलब यह है कि उसकी भावना का शब्दश: पालन किया जाए। उसके बिना सिद्धांत का कोई अर्थ नहीं है। जब कोई व्यक्ति अपने कर्म या कार्रवाई के नैतिक नियम की घोषणा करता है तो संसार के लिए उसका यह कर्म पूर्वानुमेय हो जाता है। यह घोषणा दुहैरी होती है : वह स्वयं को भी सम्बोधित होती है और संसार को भी। व्यक्ति के आत्म के लिए इस घोषणा का आशय यह होता है कि उसने अपने कार्यों की निगरानी करने का इरादा कर लिया है, जबकि संसार के सामने घोषणा करने का अर्थ यह है कि उसके कार्यों का दूसरे लोग पूर्वानुमान लगा सकते हैं।

मैं 'वशीभूत' शब्द का लापरवाही से इस्तेमाल करने में संकोच करता हूँ, क्योंकि इससे एक तरह की रहस्यमयता और अस्पष्टता का बोध होता है। लेकिन, गाँधी का मानना है कि ईश्वर रहस्यपूर्ण ढंग से काम नहीं करता। हम जिस तरह चीज़ों को धर्म से अलग करके यांत्रिक अर्थ में ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं, उसमें ईश्वर के कार्यकलाप अजीब लग सकते हैं। परंतु गाँधी की नज़र में अस्पृश्यता के पाप का दण्ड भूकम्प के रूप में मिल सकता है, और उनके लिए यह कोई रहस्यपूर्ण बात नहीं, बल्कि एक सबूत है।

दु:शासन : रक्तपान का प्रसंग

गीता के बाद आख्यान के प्रवाह में कई प्रसंग ऐसे आते हैं जिनसे नृशंसता को निषिद्ध करने वाले नियम के उल्लंघन की सूचना मिलती है। उनसे पता चलता है कि इस नियम को विस्मृत करना या उसका उल्लंघन करना कितना आसान होता है। और ठीक इसी से यह बात सिद्ध होती है कि इस सिद्धांत को अपरिहार्य बनाया जाना क्यों आवश्यक था।

रणभूमि में योद्धा एक-दूसरे को मरने-मारने पर उतारू थे। ऐसे में, अहिंसा का क्या अर्थ हो सकता था? असल में, अपनी सार्वभौमिकता के कारण इस सिद्धांत को हर जगह, परिस्थिति और कार्यों पर लागू किया जा सकता था। यह बात चाहे जितनी विडम्बनापूर्ण लगे किंतु अहिंसा का यह सिद्धांत हत्या जैसी स्थिति पर भी लागू किया जा सकता था। चूँकि अब हत्या के कर्म से बचा नहीं जा सकता था इसलिए इस नियम का अर्थ आनृशंस्य— अक्रूरता कर दिया गया। ज़ाहिर है कि इस बात का ध्येय यह जानना था कि क्या हत्या क्रूरता के बिना भी की जा सकती है। इस प्रकार यह एक सैद्धांतिक प्रश्न बन जाता है : क्रूरता के साथ की गयी हत्या का क्या अर्थ होता है? क्या यह कहा जा सकता है कि अमुक की हत्या क्रूरतापूर्ण ढंग से की गयी है? हत्या के कर्म में *क्रूर* जैसे विशेषण का प्रयोग करने से उसमें क्या चीज़ आ जुड़ती है? क्या हत्या स्वयं ही एक क्रूरतापूर्ण कृत्य नहीं है?

महाभारत की चरम शैली में वर्णित अनेक प्रसंगों में इस कथानक का सजीव चित्रण किया गया है। इसका सबसे भीषण उदाहरण कथा के अक्षम्य खलनायक दु:शासन का वध है जिसने नैतिकता के तमाम नियमों को ताक पर रख दिया है। दुर्योधन की तरह दु:शासन के प्रसंग में वध के कौशल और वीरता का भी परिचय नहीं दिया जाता। उसकी दुष्टता को संतुलित करने के लिए किसी युक्ति का इस्तेमाल नहीं किया जाता। वह कथा के सबसे क्रूर और अश्लील दृश्यों पर अट्टहास करता है। लेकिन उसकी धृष्टता मुख्यत: उस दृश्य से जुड़ी है जिसमें वह द्रौपदी को भरी सभा में खींच कर लाता है, और उसे निर्वस्त्र करने की विफल कोशिश करता है। अपूर्व नीचता के इस दृश्य में भीम सभा के सामने प्रतिज्ञा लेता है कि वह भविष्य में होने वाले युद्ध में उसका रक्तपान करेगा। इस दृश्य को लेकर आख्यान के भीतर स्थित पर्यवेक्षक और दर्शक दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करते हैं। अपनी पत्नी के नृशंस अपमान को देखकर कोई भी पुरुष प्रतिशोध की चरम सीमा तक जा सकता है। लेकिन, इस दृश्य में जिस डरावने प्रतिशोध की बात की जा रही है, वह शब्दों तक सीमित है। एक अर्थ में यह वाजिब भी है। द्रौपदी के साथ जैसा दुर्व्यवहार किया गया है, वह बलात्कार से भी जघन्य है। भीम की धमकी से यह भाव व्यक्त होता है कि इस दुष्कृत्य का दण्ड सामान्य मृत्यु से अधिक वीभत्स होना चाहिए।

अंतत: आख्यान में घटनाओं का प्रवाह उस बिंदु तक पहुँचता है जहाँ प्रतिशोध की इस धमकी का परीक्षण करके उसे मूर्त रूप दिया जाता है। इस दृश्य का बड़ा चित्रात्मक वर्णन किया गया है। रणभूमि में योद्धाओं की क़तारों को चीरते हुए भीम दु:शासन के पास पहुँचते हैं और गदा का प्रहार करके उसे रथ से नीचे गिरा देते हैं। भीम उसे लड़ाई में मारे जाने वाले योद्धा की तरह नहीं मारते। इसके बजाय वह अपने संकल्प के अनुसार दु:शासन की छाती से उसका हृदय निकाल कर रक्तपान करते हैं। भीम को ऐसा करते देख आसपास के योद्धा जुगुप्सा से भर उठते हैं। कृष्ण और अर्जुन उसे यह हरकत करने से रोकते हैं, लेकिन यह उसका संकल्प था। कौरव-सेना के योद्धा रणभूमि से चीखते-चिल्लाते भागने लगते हैं कि उनके बीच कोई राक्षस घुस आया है। अपने तात्कालिक परिवेश से विरक्त तथा घृणा के उन्माद की काल-कोठरी में बंद भीम महाकाल के नृत्य में डूब जाते हैं। वे कहते हैं कि ऐसा पेय उन्होंने आज तक नहीं चखा। वे इसे माँ के दूध से भी ज़्यादा स्वादिष्ट बताते हैं। इस दृश्य का वर्णन पढ़ कर पाठक सन्न रह जाता है। यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें पाठक ख़ुद को अपनी ही भावनाओं के भँवर में घिरा पाता है। ज़ाहिर है कि दु:शासन के प्रति किसी के भी मन में

सहानुभूति नहीं हो सकती थी, परंतु भीम के इस अप्राकृतिक रूप से हिंसक कृत्य पर हम हिल उठते हैं। यह एक ऐसा कृत्य है जो सभा में हुई हिंसा को हमारे सामने मूर्तिमान कर देता है। रस-सिद्धांत में अक्सर अनेक रसों के सन्निकट होने की बात की जाती है। इस दृश्य में पहले भीम का पाशविक क्रोध रौद्र रस धारण करता है, इसके बाद जब वह रक्तपान करता है तो यह रस वीभत्स की ओर झुक जाता है और अंततः क्षीण होते-होते वह करुण रस में पर्यवसित हो जाता है। मुझे नहीं लगता कि यह दृश्य मूलतः नैतिक रूप से पतित लोगों को सम्बोधित है। मेरी नज़र में वह युद्ध की विभीषिका के प्रति करुण रस का संचार ज़्यादा करता है क्योंकि अंततः इस दृश्य में नायकोचित पौरुष का आदर्श रक्तरंजित हो जाता है। हालाँकि रणभूमि के इस दृश्य में द्रौपदी सशरीर मौजूद नहीं है, परंतु हम जानते हैं कि यहाँ अगर कोई सबसे ज़्यादा उपस्थित है तो वह द्रौपदी ही है।

स्त्री पर्व एवं गांधारी का निष्फल अभिशाप

घटनाओं के सहज प्रवाह तथा छोटे-छोटे प्रसंगों से मिल कर बनी विश्वसनीयता के कारण हमारा ध्यान स्त्री पर्व के इस अजीब तथ्य की ओर जाता ही नहीं कि असल में वह एक नितांत घटनाविहीन सर्ग है। इसमें वर्णित घटनाएँ उन भावनाओं की तरह आती हैं जो युद्ध की गहमागहमी के कारण अवरुद्ध हो गयी थीं। युद्ध के दौरान सोचने, घटनाक्रम पर पुनर्विचार करने, चीज़ों की थाह लेने या विकल्पों पर विचार करने का अवकाश नहीं था। ग़ौरतलब है कि स्त्री पर्व एक चिंतनपरक सर्ग है। इन स्त्रियों की महत्ता इस बात में है कि युद्ध की सार्वभौम आपराधिकता में उनकी कोई भूमिका नहीं थी। केवल वही थीं जो युद्ध की विक्षिप्तता से बची रह गयी थीं। इस दौरान वे घर की चारदीवारी तक सीमित थीं। चूँकि वे युद्ध में भाग नहीं ले सकती थीं, इसलिए उनके पास सोचने-समझने की मोहलत थी। प्राचीन महाकाव्यों में स्त्रियाँ अक्सर विभीषिका का शोक मनाती दिखाई देती हैं। कहना न होगा कि चिंतन करने का काम हमेशा शोकाकुल लोगों के हिस्से में ही आता है। लेकिन, संवेदनाओं के इस आलोड़न में एक प्रसंग बड़ा अनुपयुक्त दिखाई पड़ता है। मृत्यु के इस अछोर दृश्य में प्रतिशोध का विचार स्वाभाविक लगता है, परंतु ध्वंस की चतुर्दिक व्याप्ति के कारण उनकी आवाज़ घुट कर रह गयी है। साफ़ देखा जा सकता है कि अब यह एक युद्ध बन चुका है जिसमें कोई भी विजेता नहीं बचा है क्योंकि इसमें पाण्डवों की क्षति भी उतनी ही हुई है जितनी कौरवों की। युद्ध में हर किसी ने अपना पति, बच्चा, माता-पिता और मित्र— ऐसे तमाम लोग खो दिये हैं जो उनके जीवन से अनंत रूपों में जुड़े थे। इसलिए पाण्डव जब युद्ध में अपने कौटुम्बिक भाइयों की मृत्यु के बाद उनके माता-पिता से मिलने जाते हैं तो किसी विजेता की तरह नहीं बल्कि सह-पराजितों की तरह जाते हैं। यहाँ छोटी-छोटी घटनाएँ उभरती हैं और पलक झपकते ही ग़ायब हो जाती हैं। मसलन, धृतराष्ट्र भीम को गले लगाने के बहाने उसे भींच कर मार डालना चाहते हैं, परंतु उन्हें यह जानकर संतोष होता है कि वह भीम के बजाय उसका पुतला था। गांधारी की अश्रुपूरित आँखें युधिष्ठिर के नाखूनों पर ठिठक जाती हैं और उसके नाखूनों को विषाद के रंग से रंजित कर देती हैं।

लेकिन इस सर्ग में सबसे विचित्र और जटिल प्रसंग गांधारी तथा कृष्ण की संक्षिप्त भेंट का है। गांधारी कृष्ण को शाप देती है कि उसके वंश के अंत भी कौरवों जैसा होगा और उसके वंश की स्त्रियाँ भी कौरवों की स्त्रियों की तरह विलाप करती पाई जाएँगी। गांधारी ने कृष्ण को शाप क्यों दिया? गांधारी का कहना था कि कृष्ण इस युद्ध को रोक सकते थे, और सारे लोगों को मृत्यु से बचा सकते थे लेकिन उन्होंने यह प्रयास नहीं किया। कथा के विधान की दृष्टि से यह एक अजीबोग़रीब आरोप था क्योंकि इस लम्बे आख्यान में गांधारी निष्पक्षता और न्याय की मूर्ति बन कर उभरती है। उसने इस लम्बी और कई पड़ावों से गुज़रती कथा में किसी पर एक बार भी झूठा या अनर्गल आरोप नहीं लगाया। और यहाँ यह आरोप उस व्यक्ति पर लगाया जा रहा है जिसने अंतिम विजय के सामूहिक पागलपन

से ग्रस्त क्षत्रिय योद्धाओं के विपरीत युद्ध में भाग लेने से इंकार कर दिया। कृष्ण, जो इस कथा में जब तब स्वयं ईश्वर के रूप में प्रकट होते रहते हैं, सांसारिक उद्देश्यों की पूर्ति के मामले में एक अमानुषिक सोच के प्रतिनिधि नज़र आते हैं। वे इस गहरे, तसल्लीबख़्श और भयावह सत्य की ओर इशारा करते हैं कि युद्ध चाहे कितना भी जायज़ लगता हो और उसमें विजय प्राप्त करने के लिए कितने भी उचित उपायों का सहारा लिया गया हो, अंततः वह दीर्घकालिक विजय का स्रोत नहीं हो सकता क्योंकि मानवीय अस्तित्व में दीर्घजीविता की कोई गारंटी नहीं है। इस संबंध में कींस की यह उक्ति भी स्मरणीय है कि न्यायोचित माने जाने वाले युद्ध भी पूरी तरह व्यर्थ होते हैं क्योंकि अंततः उसमें हम सब काल-कवलित हो जाते हैं। लेकिन, *गीता* में कृष्ण विरक्ति के प्राचीन तर्क को अनूठी दिशा में मोड़ देते हैं। यह एक ऐसा विषय या उपपत्ति है जिसे समझना आसान नहीं है। अनासक्ति के पक्ष में जितने भी तर्क दिये जाते हैं, वे मनुष्य के कर्म की निरर्थकता की ओर ही इंगित करते हैं। उनसे व्यक्ति के मन में मानवीय क्रियाकलाप के प्रति केवल एक उदासीनता और आसक्ति के बंधनों से मुक्त हो जाने की सतत इच्छा जन्म लेती है। लेकिन, कृष्ण अद्वैतवादी चिंतकों या संन्यासियों की तरह वैराग्य का मार्ग अपनाने की सलाह नहीं देते। इसके बजाय वे एक बेहद जटिल स्थिति की ओर संकेत करते हैं : मनुष्य को राग ही कर्म की ओर प्रवृत्त करता है— वही उसकी प्रेरणा होता है। कृष्ण राग से तो अनासक्त हो जाना चाहते हैं परंतु कर्म के प्रति अपनी वचनबद्धता को यथावत रहने देते हैं। अगर व्यक्ति में किसी वस्तु के प्रति काम या राग न हो तो वह कर्म की ओर प्रवृत्त ही क्यों और कैसे होगा? महाकाव्य में कृष्ण के परिचितों में बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उनके इस जटिल चिंतन को समझ सकते हैं। इस संबंध में केवल तीन या चार व्यक्तियों का स्मरण होता है— और इन चारों ही व्यक्तियों की भूमिका आंशिक या बहुत सीमित है। विदुर कुरु वंश की एक ऐसी अंतश्चेतना है जो उससे छिटक गयी है। उसकी स्थिति कृष्ण अथवा व्यास जैसे ज्ञानसाधकों और सत्यान्वेषकों से भिन्न है। युद्ध के कर्म में रत योद्धाओं के बीच युधिष्ठिर की भूमिका उसकी नीतिपरक बुद्धि के कारण सीमित हो गयी है। वह अपना जीवन उनके निर्णय से अलग नहीं कर सकता। इनमें एक अन्य व्यक्ति धृतराष्ट्र का सारथी संजय है जिसके पास दिव्यदृष्टि है। और अंत में, *महाभारत* की स्त्रियों में सबसे उल्लेखनीय अपवाद— गांधारी है। इन चार व्यक्तियों में गांधारी भी एक पात्र है जो कृष्ण के इस विचित्र, विरोधाभासी और नीर-क्षीरवादी उपदेश का मर्म समझ सकती है, जबकि अर्जुन अपने निरंतर प्रयास के बावजूद भगवान कृष्ण द्वारा एकांत में दिये गये इस ज्ञान को आत्मसात् नहीं कर पाते। अर्जुन को कृष्ण के तर्क-वितर्क की अगम्य वक्रता और चपलता समझ नहीं आती। कृष्ण और अर्जुन के इस संवाद को केवल संजय सुन पाता है। लेकिन अगर इन चरित्रों की प्रखर बुद्धि पर विश्वास करके चला जाए तो यह मानने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि यह संवाद उन्हें अबूझ पहेली सरीखा लगा होगा और अंततः उन्होंने कृष्ण के विचार को उनके जीवन के क्रियाकलापों वाली छवि मान कर ग्रहण कर लिया होगा। उदाहरण के लिए, कृष्ण का स्पष्ट विचार था कि पाण्डव न्याय के पक्ष में खड़े हैं परंतु उन्होंने पाण्डवों की तरफ़ से युद्ध में भाग लेने से इंकार कर दिया था। गांधारी का आरोप इसीलिए असंगत लगता है।

गांधारी का यह आरोप तभी वैध ठहर सकता है जब कृष्ण को निर्भ्रांत रूप से एक ऐसा लोकोत्तर ईश्वर मान लिया जाए जिसने मानवता का कल्याण करने का संकल्प लिया हुआ है। लेकिन, अगर कृष्ण लोकोत्तर ईश्वर है भी तो ईश्वर के सरल और परम्परागत रूप की तरह मानवता का कल्याण करने में उसकी कोई रुचि नहीं है। सच तो यह है कि प्रस्तुत महाकाव्य में कृष्ण एक विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति के रूप में उभरते हैं; अगर इस छवि को थोड़ा और खींचा जाए तो उनकी छवि एक ऐसे अवतारी पुरुष की है जिसका काम मनुष्यों की समस्याओं का हल करना नहीं है। वह तो मनुष्यों को केवल उनकी चरम शक्तियों का भान कराता है। इस नियम के अनुसार, कृष्ण ने किसी भी युद्ध

में पाण्डवों के शत्रुओं का संहार नहीं किया। उसने अर्जुन को केवल कभी-कभार ही यह परामर्श दिया कि वह अपनी बाणविद्या का उत्कृष्टतम स्तर कैसे छू सकता है। यहाँ कृष्ण ने कभी अपनी मानवी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं किया। इस दृष्टिकोण से कृष्ण को युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराना एक निकृष्टतम आरोप है। और विचित्र यह है कि कृष्ण पर यह आरोप गांधारी द्वारा लगाया जाता है, जो इस आख्यान में नैतिक मेधा के एक अनिंद्य स्रोत की तरह विद्यमान रही है। कथा में कृष्ण को उकसाया नहीं जाता। युद्ध से विषण्ण कृष्ण गांधारी के निराधार आरोप को स्वीकार कर लेते हैं। वे गांधारी से कहते हैं कि उन्हें इस सत्य का आभास है कि कौरवों की तरह यदुवंश का अंत भी दारुण होगा और वे इसे टालने के लिए भी कोई प्रयास नहीं करेंगे। असल में, कृष्ण एक ऐसा अभागा ईश्वर था जिसने मनुष्य की नियति का वरण कर लिया था। आख़िर गांधारी को ऐसा निरर्थक शाप देने की क्या पड़ी थी जिसकी कोई ज़रूरत ही नहीं थी? वह भविष्य की पूर्व-निश्चित घटना की घोषणा क्यों करना चाहती थी? क्या कृष्ण किसी प्रकार यह दिखाना चाहते थे कि समय का अंत निकट आ रहा है? क्या वे यह कहना चाहते थे कि समय के आड़े आना स्वयं ईश्वर के लिए भी निरर्थक होगा? वस्तुतः हिंदू धर्म के दार्शनिक चिंतन से संबंधित कतिपय रूपों में ईश्वर को भी समय का सम्प्रभु नहीं स्वीकार किया जाता। उसे ब्रह्माण्ड का एक ऐसा सृजनहार माना जाता है जिसके नियमों पर स्वयं उसका भी कोई वश नहीं चलता।

द्रौपदी की मृत्यु और अमृतत्व : प्रेम करने का पाप, शुचिता और निष्ठा

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि *महाभारत* के आख्यान में एक ऐसी युक्ति का नियोजन किया गया है जो इसके जटिल स्थापत्य में किसी भी पुरुष पात्र को केंद्रीय भूमिका ग्रहण नहीं करने देती। आख्यान की इस भूमिका में द्रौपदी ही खरी उतरती है। इसी तरह, महाप्रस्थानिका पर्व में वर्णित मृत्यु के अनेक आसंगों में केवल द्रौपदी की मृत्यु ही सबसे गहरे और बेचैन कर देने वाले सवाल खड़े करती है। पाण्डव बंधुओं तथा द्रौपदी की पराजय के कारणों की तुलना करके देखिए तो उनमें कोई संगति दिखाई नहीं देती। युधिष्ठिर के सारे भाइयों को यह विश्वास था कि वे किसी न किसी गुण के श्रेष्ठतम प्रतिनिधि हैं। भीम शारीरिक बल का शिखर तो अर्जुन स्वयं को सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर मानता था। इसी तरह, नकुल को अपनी सुंदरता तो सहदेव को बुद्धिमत्ता का भान था। उनमें केवल युधिष्ठिर ही ऐसा था जिसे अपने विषय में कोई भ्रांति नहीं थी। लेकिन, द्रौपदी का अंत इन सबसे निराला है। उसकी विफलता या उसका पाप यह था कि उसने अर्जुन जैसे उस धनुर्धर से प्रेम किया था जिसने स्वयंवर के दिन ही उसका हृदय जीत लिया था। *महाभारत* के बारे में एक कहावत है : जो इसमें नहीं है, वह संसार में भी नहीं है। यह एक अतिशयोक्तिपूर्ण विचार है, लेकिन मुझे लगता है कि यह सच है। जब इस महाकाव्य को एक शाश्वत सत्य की तरह प्रस्तुत किया जाता है तो इसका आशय यह होता है कि *महाभारत* मानव-जीवन में घटने वाली शाश्वत घटनाओं को समझने में सहायता करता है। इस महाकाव्य को पढ़ते हुए इसके पृष्ठों पर अंकित विषाद हमारी चेतना से विस्मृत नहीं होना चाहिए। *महाभारत* की सर्वकालिक प्रासंगिकता का एक प्रमुख कारण द्रौपदी है। वर्तमान समय में मनुष्य अर्जुन की तरह रथ पर सवार होकर युद्ध लड़ने नहीं जाता। लेकिन संसार आज भी हिंसा से पगलाया (हिंसा-उन्मत्त) हुआ है। द्रौपदी को जिस हिंसा से गुज़रना पड़ा था उसकी विकटता में कोई कमी नहीं आयी है। व्यासदेव ने अपने आख्यान में द्रौपदी की मृत्यु की कल्पना की थी। परंतु, द्रौपदी का काव्यशरीर आज भी अमर्त्य (मृत्युंजय) है— संसार की समस्त स्त्रियों का समस्त सौंदर्य (रूप/सौंदर्य) और उनकी यातना व अपमान का अनंत प्रवाह उसे मरने ही नहीं देता। हमें इस महाकाव्य के पन्ने बंद नहीं करने चाहिए; यह अलग बात है कि हमारे समय में द्रौपदी अक्सर मुस्लिम नामों से पहचानी जाती है।

अगर पाठक इसे किसी भी रूप में एक नैतिक विफलता के तौर पर देखते हैं तो उनके लिए यह उपहास की बात होगी।

कृष्ण / ईश्वर की मृत्यु

अगर हम कृष्ण पर एक उदीयमान ईश्वर की दृष्टि से विचार करें तो यह ईश्वर महाकाव्य के अंत में दिवंगत हो जाता है। महाकाव्य के अंत में मनुष्यों का संसार निरावलम्ब हो जाता है। उसका ईश्वर मर जाता है। मनुष्य अपने संसार में अकेला रह गया है। अब उसे टूटे बिखरे सिरों को जोड़ कर सभ्य जीवन की आड़ी तिरछी रूपरेखा स्वयं खींचनी हैं। इस अर्थ में कृष्ण की मृत्यु भी एक आत्यंतिक घटना है। हालाँकि आख्यान में कृष्ण की उपस्थिति प्रत्यक्ष नहीं रही है, परंतु कथा का सबसे कौतुकपूर्ण व्यक्तित्व वही है। वह हमेशा पृष्ठभूमि में रहा है, लेकिन आख्यान के निर्णायक क्षणों में वह सदैव मौजूद रहता है। विचित्र यह है कि वह किसी भी घटना में सीधे भाग नहीं लेता। कभी-कभी मुझे यह संदेह होता है कि महाकाव्य के हरिवंश सर्ग में खिलपर्व की रचना शायद इसीलिए की गयी थी। कुरुक्षेत्र के पश्चात् कृष्ण अपने जीवन के अपूर्ण कार्य के साथ द्वारका लौट जाते हैं। उनकी मृत्यु की साधारणता स्तब्ध कर देती है। उससे कई विचार उभरते हैं। कई प्रसंगों में हिंदू मिथकों के अल्पचर्चित चरित्रों की मृत्यु भी एक दैवीय घटना की तरह चित्रित की गयी है, जबकि कृष्ण अचानक प्रकाश के विस्फोट में विलीन नहीं होते। ज़रा इस बात पर ध्यान दें कि नैतिक रूप से कर्ण जैसे संदेहास्पद चरित्र की देह भी उनकी मृत्यु के बाद प्रकाश के पिण्ड में परिणत होकर आकाश में चली जाती है, और वह सूर्य के प्रकाश में विलीन हो जाते हैं। यह विचित्र है कि कृष्ण को, जो स्वयं भगवान है, ऐसी दिव्य मृत्यु प्राप्त नहीं होती। हमें लगता है कि एक अवतार के रूप में उन्होंने स्वयं को मानवीय नियति के स्तर पर उतार लिया है, और इस नाते उनकी दिव्यता का अपघटन हो गया है। यह सत्य है कि कृष्ण ने अपनी मृत्यु की योजना पहले ही बना ली है। वे योगनिद्रा— एक प्रकार की चिरनिद्रा में चले जाते हैं, जो अंततः मृत्यु की निद्रा में तिरोहित हो जाती है। लेकिन, लोकमानस में आज भी यही धारणा प्रचलित है कि उनकी मृत्यु एक शिकारी के तीर से हुई थी जिसने उनके पीताभ तलुवे को भ्रमवश हिरण का कान समझ लिया था। अपनी मृत्यु से पहले कृष्ण का यह असामान्य वैराग्य-भाव गांधारी को दिये गये उत्तर की उदासीनता में भी लक्षित होता है। कृष्ण का यह भाव हमें चौंका देता है : सर्व क्षयांतया निचयाः। यह ध्रुव सत्य है, परंतु यह नियम तो साधारण संसार के लिए बना है। क्या ईश्वर एक ऐसी सत्ता नहीं है जिसे उपेक्षित या खण्डित करने के लिए नहीं गढ़ा जाता? क्या वह निरंतर परिवर्तनशील अस्तित्व का अपरिवर्तनीय आधार नहीं होता? इसका उत्तर शायद यह है कि कृष्ण ने मानव के रूप में जन्म लेकर स्वयं को मनुष्यता की अधोगति से एकमेक कर लिया था। मानव-जीवन में जागरण के प्रकाश का संचार करने के लिए अवतार रहस्य की सीढ़ियों से उतर कर नहीं आता, और न ही वह रहस्यपूर्ण ढंग से अदृश्य होता है : अंततः उसे एक साधारण मृत्यु की रहस्यहीनता का वरण करना पड़ता है। उल्लेखनीय है कि परवर्ती हिंदू चिंतन या कहें कि कम से कम *महाभारत* में कृष्ण की उपस्थिति नियमित नहीं रही— उनकी तुलना में राधा ज़्यादा भाग्यशाली रही है, वह परवर्ती आख्यान में कहीं भी प्रकट हो जाती है।

चमत्कार

महाभारत जैसी रचनाओं में चमत्कार की अवधारणा विशेष महत्त्व रखती है। कश्मीर के आचार्यों का मन इस कृति में कुछ ज़्यादा ही रमता था। एक रचना के तौर पर इसके भाष्य में चमत्कार की युक्ति के प्रयोग का श्रेय उन्हीं को जाता है। इन आचार्यों में *महाभारत* के उल्लेख की निरंतरता आनंदवर्धन से लेकर अभिनवगुप्त तक प्रवहमान रही है। बारबरा कैसिन और उनके सहयोगियों ने चमत्कार का प्रयोग जिस अर्थ में किया है, उसका अनुवाद करना सम्भव नहीं है। अंग्रेज़ी में चमत्कार शब्द का समानार्थी शब्द ढूँढ़ना मुश्किल काम है। एक पद के रूप में चमत्कार मुख्यतः आश्चर्य/अचरज की भावना प्रकट करता है। अवधारणा के शब्दार्थ हेतु यह भावना निस्संदेह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, किंतु

प्रारम्भिक उद्रेक के बाद आश्चर्य की यह भावना रचना को दो प्रकार से समृद्ध करती है। आश्चर्य हमें आख्यान के आकर्षण से बाँधे रखता है। इसी के साथ मंच पर कथोपकथन या रचना का पाठ भी चल रहा होता है, परंतु यह प्रक्रिया इतनी कौतुकपूर्ण होती है कि हमारा पाठ रचना के पाठांत पर ख़त्म नहीं हो पाता। सीमित अर्थ में कहें तो यह प्रक्रिया पाठ से बाहर निकल कर एक ऐसी प्रतिध्वनि की तरह फैलने लगती है कि एक तरह से हम उस अनुभव को मथने लगते हैं।

किंतु इस अनुभव पर मंथन करते रहने— इसकी तरफ़ बार-बार लौटने के दो पृथक् निहितार्थ भी हो सकते हैं। पहला, इसका अर्थ कला के अनुभव को दुबारा अनुभूत करना भी हो सकता है— ठीक उसी तरह जैसे किसी मधुर धुन को एक बार सुनने के बाद हम उसे दुबारा सुनना चाहते हैं। कला का हमारा अनुभव बताता है कि यह काम हम अक्सर करते हैं। रिकॉर्ड्स और सीडी का उत्पादन इसी तथ्य की पुष्टि करता है। लेकिन चर्वण— ख़ास तौर पर अभिनव की दृष्टि में चमत्कार के प्रारम्भिक अर्थ को एक भिन्न छवि प्रदान करता है। चमत् का शाब्दिक और द्वितीयक अर्थ गिरफ़्त में लेने जैसे भाव की ओर इशारा करता है। यह एक ऐसा विस्मयादिबोधक शब्द है जिसमें हैरान या चकित रह जाने का भाव निहित है। ऐसे किसी अनुभव से गुज़रने पर हम पिछला काम भूल जाते हैं या दूसरे शब्दों में कहें तो इसके बाद हम वह सब नहीं कर सकते जो आम तौर पर किया करते हैं। यह भाव हमें सोचने पर मजबूर कर देता है। यह एक ऐसा अनुभव होता है जो हमें हैरानी के अबूझ आनंद व सम्मोहन से बाहर निकाल कर विचारशीलता की ओर ले जाता है। इस प्रकार, चमत्कार एक ऐसा प्रसंग होता है जो हमें दोहरे अर्थ में विस्मित करता है : एक, वह हमें सम्मोहित करता है, और हमारा ध्यान कुछ इस तरह खींचता है कि सम्मोहन की प्रक्रिया चिंतन में बदल जाती है। यह सामान्य आकर्षण या सम्मोहन के बूते की बात नहीं है : इसलिए सामान्य सम्मोहन को चमत्कार नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह एक ऐसी गहन बौद्धिक/ वैचारिक/ ज्ञानात्मक व्यग्रता उत्पन्न करता है जिसे किसी अन्य संज्ञा में अपघटित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार चिंतन के संदर्भ में भी चर्वणा एक दूसरी धारा की ओर इंगित करता है। इस विषय में कुछ लोग यह भी कह सकते हैं कि साहित्य का आनंद चिंतन से आक्रांत नहीं होना चाहिए। उनका मानना है कि चिंतन की छाया साहित्य की चमक को फ़ीका कर देती है। परंतु यह सिद्धांत उस तर्क को अनुचित मानता है। कला चाहे कितनी भी उत्कृष्ट क्यों न हो— सम्मोहन समाप्त होते ही वह भी ख़त्म हो जाती है। सम्मोहन की समाप्ति के बाद कला के पास स्वयं को जीवंत रखने का कोई उपाय नहीं बचता। लेकिन, अगर चमत्कार का अनुभव व्यतीत हो जाने के बाद कला हमें विचारशीलता की ओर प्रवृत्त करती है तो फिर वह समाप्त होने के बजाय हमारे विचार-जगत में प्रवेश कर जाती है। इस प्रसंग में ध्वनि का उदाहरण लिया जा सकता है जो अपने भौतिक अंत के बावजूद हमारे विचार में ठिठकी रहती है। आनंद का प्रकार या उसका रूप बदलते ही उसका विचार-पक्ष धीरे-धीरे और पुष्ट होता जाता है; उसका प्रभाव संकुचित होने के बजाय और विस्तृत होने लगता है। भौतिक ध्वनि की भाँति कलात्मक प्रसंग की प्रतिध्वनि अर्थात् रसध्वनि का प्रभाव समय के साथ घटता या क्षीण नहीं पड़ता। इसके उलट, यह प्रभाव अपना विस्तार करते हुए हमारे मन को सघन अर्थवत्ता से भरता जाता है। कला के प्रसंग पर हम जितना चिंतन करते जाते हैं, उतना ही उस मोहक दृश्य से मुक्त होते जाते हैं जिसने हमारे हृदय को शुरुआती क्षणों में अपने आकर्षण में जकड़ लिया था। दरअसल, एक अर्थ में यही बात कला के अनुभव को कालजयी बनाती है। इसलिए अंत में लगता है कि संशय की तुलना में उपक्रमणिका ज़्यादा सही थी। एकबारगी जब कोई सचमुच *महाभारत* पढ़ना शुरू कर देता है तो पाठ की क्रिया के बीच व्यवधान आता रहता है; इसी व्यवधान के दौरान हम पुन: पाठ की ओर लौटते हैं। पठन की यह प्रक्रिया हमें बार-बार यह सोचने के लिए प्रेरित करती रहती है कि प्रस्तुत रचना का लक्ष्यार्थ क्या है। इस प्रकार, इस रचना को पढ़ना एक ऐसा कर्म बन जाता है जो कभी ख़त्म ही नहीं होता।